– कीर्तन –

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर,
हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर। (५ बार)
हे समर्थ हे करुणा-सागर,
विनती यह स्वीकार करो। (२ बार)
भूल दिखाकर उसे मिटाकर,
अपना प्रेम प्रदान करो। (२ बार)
पीर हरो हरि पीर हरो हरि,
पीर हरो प्रभु पीर हरो। (२ बार)

प्रबोधनी

मानव सेवा संघ
प्रवर्तक का
संक्षिप्त
परिचय

श्री ... नमः
थोड़ी-थोड़ी देरमें कहते रहो-
हे मेरे नाथ ! मैं आपको भूलूँ नहीं
www.swamiramsukhdasji.org

प्रबोधनी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ,
वृन्दावन

द्वितीय बार : ४०००
अक्षयतृतीया १९६५
मूल्य : दो रुपये पचास पैसे

मुद्रक :
श्रीहरिनाम प्रेस,
वृन्दावन

दो शब्द

दुःख के घने बादल जिस व्यक्तित्व को तिमिराच्छन्न कर लेते हैं वह उदय-अस्त से रहित अनन्त प्रकाश-रश्मियों को स्वयं में अवतरित करने के लिये उद्यत हो जाता है। मानव जीवन की संरचना का यह भी एक साँचा है जिसमें कोई-कोई अपने को ढालकर मानवता की महती विलक्षणता को संसार में साकार करता है। कहाँ घोर अंधकार ! कहाँ अनन्त प्रकाश !! इस उद्भव की दृष्टि से मानव जीवन में दुःख के घने बादलों का घिर आना अनन्त प्रकाश के अवतरण का ही सूत्रपात है। उस प्रकाश से जो जीवन अभिन्न होता है वह स्वयं सदा-सदा के लिये कृतकृत्य तो होता ही है—मानव-मात्र के लिये 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की अमिट लीक भी कालपट्ट पर खींच देता है जिस पर चलकर युगों-युगों तक मानव समाज दुःख से परित्राण पाता है एवं अनन्त-आनन्द से अभिन्न होता है। प्रस्तुत 'प्रबोधनी' ऐसे ही एक महामानव के महाभिनिष्क्रमण की कथा है। अब आप स्वयं ही इसे पढ़ें और आनन्द लें।

निवेदिका :
देवकी

प्रार्थना

मेरे नाथ !
आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतित-पावनी,
अहैतुकी कृपा से दुखी प्राणियों के हृदय
में त्याग का बल एवं सुखी प्राणियों
के हृदय में सेवा का बल प्रदान
करें, जिससे वे सुख-दुःख के
बन्धन से मुक्त हो, आपके
पवित्र-प्रेम का आस्वादन
कर कृतकृत्य
हो जायँ।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

वस्तु खिंचती है धरती की ओर,
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर।

परिचय

प्रश्न— श्री महाराज जी ! हम आपका परिचय जानना चाहते हैं ?

उत्तर— शरीर सदैव मृत्यु में रहता है और मैं सदैव अमरत्व में रहता हूँ— यह मेरा परिचय है।

प्रश्न— श्री महाराज जी ! हम आपकी जीवनी लिखना चाहते हैं ?

उत्तर— मेरी जीवनी है "दुःख का प्रभाव"— लिख लो।

प्रश्न— स्वामी जी महाराज ! यहां का प्रोग्राम पूरा करके आप कहाँ जायेंगे ?

उत्तर— गेंद को क्या पता है कि खिलाड़ी उसे किधर लुढ़कायेगा।

सामान्य वार्तालाप में भी जिनके मुख से चिरन्तन सत्य की विलक्षण अभिव्यक्ति होती रहती थी वे ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्द जी महाराज एक महान क्रान्त-दर्शी, तत्त्ववेत्ता, भगवद्भक्त एवं मानवता के संरक्षक संत थे। उनका प्रादुर्भाव उत्तर भारतवर्ष में २०वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। उनके जीवन के उन्मेष के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रसंगवश उन्हीं के श्रीमुख से जो कुछ सुना गया, उससे हम लोगों ने जाना कि बचपन में ही, लगभग १० वर्ष की उम्र में उनकी आँखें चलीं गयीं। इनके अंधेपन के दुःख से सारा परिवार अथाह दुःख में डूब गया। परन्तु उस दुःख के प्रभाव से इनमें एक प्रश्न पैदा हो गया—"क्या ऐसा भी कोई सुख होता है, जिसमें दुःख शामिल न हो ?" उत्तर मिला कि ऐसा सुख साधु-संत को होता है, जिसमें दुःख नहीं रहता। इस उत्तर से इन्हें जीवन की राह मिल गयी। इन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं साधु हो जाऊँगा। इनके मन में यह चिन्तन चलने लगा कि साधु कैसे बनूँ? सद्गुरु-रूप संत मिले। बातचीत हुई। संत ने परामर्श दिया कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ। इनके

बाल्यकाल के कोमल हृदय पर संत की वाणी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। ईश्वर की शरणागति स्वीकार करते ही इनके मन में ईश्वर से मिलने की तीव्र उत्कंठा जाग्रत हो गयी। उस उत्कंठा ने शरीर और संसार के सब बन्धनों को ढीला कर दिया। १६ वर्ष की उम्र में इन्होंने विधिवत् संन्यास ले लिया। इनका नया नामकरण हुआ—"स्वामी शरणानन्द जी"। उसी समय से सब सामान एवं साथियों का सहारा छोड़कर ये संन्यास-धर्म के कठिन व्रतों का बड़ी दृढ़ता से पालन करते हुए भगवान् के सहारे रहने लगे।

श्री महाराज जी के साधन-काल की घटनाओं से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् के शरणागत होने का भाव इनमें इतना सजीव था कि—"सर्व समर्थ प्रभु सदैव अपने साथ हैं"—इस सत्य के अभिव्यक्त होने में देर नहीं लगी। एक बार मथुरा से आगरा जाते समय ये अकेले ही पैदल यमुना के किनारे-किनारे जा रहे थे। एक स्थान पर ढाह गिरी। ये पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी छूट गयी।

तैरना कुछ आता था, पर बिना देखे पता नहीं चला कि किधर की ओर तैरें। 'शरण्य' की याद आयी और उनके भरोसे इन्होंने जल में डूबते हुए शरीर को ढीला छोड़ दिया। तत्काल ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी ने इनको जल में से निकाल कर खुश्की पर डाल दिया। उठने के लिए जब इन्होंने धरती पर हाथ टेका तो एक नई लाठी हाथ में आ गयी। प्रभु की शरणागत-वत्सलता को पाकर इनका हृदय भर आया। उनकी महिमा से अभिभूत, उनके प्यार में मस्त होकर ये उठे और चल दिये।

इनके जीवन की ऐसी अनेक घटनायें हैं जिनसे ईश्वर के प्रति अविचल आस्था एवं अनन्य शरणागति का परिचय मिलता है। जब कभी ये वृन्दावन में होते तो प्रतिदिन श्री बांके बिहारी जी के दर्शन करने जाते थे। एक दिन एक मित्र ने पूछ लिया कि, "महाराज जी ! आपको दिखाई तो देता नहीं है—"दर्शन कर नहीं सकते, फिर आप मन्दिर में क्यों जाते हैं ?" श्रीमहाराज जी ने उत्तर दिया—"भले आदमी ! सोचो

तो सही—मेरी आँखें नहीं हैं, तो क्या ठाकुर जी की भी आँखें नहीं हैं ? मैं नहीं देख सकता, परन्तु वे तो देखते हैं। मुझे देखकर उन्हें प्रसन्नता होती है, इसलिए मैं मन्दिर में जाता हूं।" कितना सजीव ईश्वर-विश्वास है !

श्रीस्वामीजी महाराज एक बार ट्रेन में बैठे थे। ईसाई मत के एक पादरी साहब भी वहाँ आकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने श्री महाराज जी से पूछा कि आप मसीहा को जानते हैं ? इन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया, "जी हाँ, जानता हूँ।" पादरी साहब ने फिर प्रश्न किया कि मसीहा के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ? इस प्रश्न को सुनकर बड़ी प्रसन्नता एवं कॉनफिडैन्स के साथ श्रीमहाराज जी ने कहा—'भाई, मसीहा खुदा के पुत्र हैं, मैं खुदा का दोस्त हूँ, मसीहा मेरा सगा भतीजा है, मैं उसको अच्छी तरह जानता हूँ। मसीहा मुझे बहुत प्यारा लगता है।' एक गेरू वस्त्र-धारी हिन्दू संन्यासी मसीहा को अपना सगा-सम्बन्धी मानता है और आत्मीयता के नाते प्यार करता है—ऐसे सम्बन्ध की

कल्पना भी पादरी साहब नहीं कर सकते होंगे। वे श्री महाराज जी का उत्तर सुनकर स्तम्भित रह गये। उन्होंने हिन्दू मत के इस व्यापक ईश्वरीय सम्बन्ध की बात, जिसमें सभी मजहब के ईश्वर-विश्वासी समा जांय, कभी सुनी नहीं होगी। किन्तु आप सोचिए कि श्रीमहाराज जी की बात कितनी सत्यतापूर्ण है। वस्तुतः ईश्वरवाद में मजहब-भेद हो ही नहीं सकता। ईश्वरवाद तो मानव-जीवन का एक ऐसा व्यापक सत्य है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च के भेद इसे विभाजित नहीं कर सकते। ईश्वरवादी होकर मजहबी संघर्ष करने वाला घोर अनीश्वरवादी है। क्योंकि, सही ईश्वरवाद का अर्थ है—प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। वैष्णवमत के अनुसार यही उपासना है। इसी आधार पर श्री महाराज जी ने भक्तिमती मीरा जी, महात्मा ईसा मसीह और पैगम्बर मुहम्मद को परम वैष्णव कह कर स्वीकार किया है। क्योंकि, मीरा जी ने ईश्वर को अपना पति माना, महात्मा ईसा ने ईश्वर को अपना पिता माना और पैगम्बर मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना और तीनों ही प्रभु के परम-भक्त हुए।

प्रभु-भक्ति के लिए ईश्वर को अपना मानना और उनको रस देने के लिए उनके प्रेमी होना अनिवार्य है। कोई मन्दिर में जाकर पूजा करेगा कि मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ेगा कि चर्च में जाकर प्रार्थना करेगा—यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई प्रभु को अपना मानकर उनके प्रति प्रेमभाव रखेगा और उन्हीं के नाते प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव रखेगा तो उसे सब जगह परमात्मा मिलेगा, अन्यथा कहीं नहीं मिलेगा। यह ध्रुव सत्य है। श्री स्वामी जी महाराज ने इस सत्य को स्वीकार करने का परामर्श सभी ईश्वरवादी साधकों को दिया है। उनका यह विचार उनके प्रवचनों में व्यक्त है, जिसका अनुसरण मजहबी एकता को सुरक्षित रखने में समर्थ है।

श्री स्वामी जी महाराज को संन्यास देने वाले गुरु ने एक बार विदा होते समय कह दिया कि 'बेटा, जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिये लालायित रहेगी, चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए तैयार रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे और खूंखार शेर

तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।' इतना कह कर सद्गुरु देव ने स्वरचित एक दोहा सुना दिया—

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।
दिल देवे, सो दिलवर को पावे।।"

'जीते जी मर जाय' अर्थात् अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न हो जाना और 'दिल देवे' अर्थात् केवल प्रभु को अपना मानकर उन्हें रस देने के लिये अपने को समर्पित करना।

श्रीस्वामी जी महाराज ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे अपने जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा। अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होकर इन्होंने परम स्वाधीन, दिव्य-चिन्मय जीवन पा लिया तथा प्रभु के प्रेमी होकर प्रेम के अनन्त रस से भरपूर हो गये।

घोर पराधीनता की पीड़ा से मुक्त होकर अमरत्व के आनन्द में मस्त हो गये। इस सम्बन्ध में श्रीमहाराज जी ने

अपना एक अनुभव सुनाया था। एक बार उनका शरीर अस्वस्थ हो गया था। उत्तराखण्ड की यात्रा करके वापस आये थे। हिल डायरिया से शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया था। साथ-साथ ज्वर भी रहने लगा। बीमारी की दशा में करीब ४० दिन बीत गये थे। चिकित्सकों के मतानुसार नाड़ी की गति शरीर के नाश का संकेत दे रही थी। मित्रों, प्रेमियों एवं चिकित्सकों ने चिन्ता प्रकट की। श्री स्वामी जी महाराज के शरीर को नियमानुसार कुशा और मृगछाला बिछाकर जमीन पर उतार दिया गया। चारों ओर प्रियजन खड़े थे। प्रेमी डाक्टर ने कहा कि 'बाबाजी चले'। इन्होंने सुना और प्रियजनों के उमड़ते हुए हृदय के स्पन्दन को अनुभव किया। वीतराग संत को बड़ा भारी कौतुहल हुआ कि प्रियजन इतने दुःखी क्यों हैं? उन्होंने सोचा कि अब मैं देखता हूं कि मृत्यु कैसी होती है ? जब वे देखने लगे तो उन्हें बड़ा आनन्द आया। शरीर के छूट जाने में इतना हल्कापन और इतना आनन्द था कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं थी। इस अनुभव से वे इस निश्चय पर पहुंचे कि मृत्यु में कोई दुःख नहीं है।

चूंकि आदमी शरीर को बनाये रखना चाहता है, इस कारण मरने में दुःखी और भयभीत होता है, अन्यथा आनन्द ही आनन्द है। उनका आनन्द मृतकवत् शरीर पर भी फैल गया था। वे उस शरीर को जमीन पर पड़ा हुआ देख रहे थे और सुन रहे थे कि मित्रगण कह रहे हैं कि देखो 'बाबाजी कितने प्रसन्न हैं'। बुद्धि की प्रखरता, हृदय की कोमलता एवं जीवन के प्रति जागरूकता के गुण इनमें जन्म-जात थे। अवसर पाकर इन गुणों का पूर्ण विकास हुआ। एक बार ये अपने गुरु के पास बैठे थे। इनके मन में शास्त्रों एवं उपनिषदों के अध्ययन का संकल्प उठा। आँखें तो थी नहीं, मन ही मन सोचकर रह गये। तत्काल ही इनके गुरुदेव बोल उठे– 'अरे भाई ! ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वतः अभिव्यक्त होता है। उसकी पाठशाला है–'एकान्त' और पाठ है 'मौन'।' ज्ञानार्जन का यह रहस्य सुनकर ये बहुत प्रसन्न हो गये। इन्होंने एकान्त में मौन रहकर बुद्धि को सम कर लिया। बुद्धि की समता में वह ज्ञान उदित हो गया जो ग्रंथों के अध्ययन से कभी सम्भव ही नहीं है। उस ज्ञान के प्रकाश में इन्हें सृष्टि

के आदि अंत के सभी रहस्यों का पता चल गया। सृष्टि के विधायक की मंगलकारिता एवं मानव-जीवन के मंगलमय विधान का अर्थ स्पष्ट हो गया। इन्होंने जानने योग्य सब कुछ जान लिया, क्योंकि जिस ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान इनमें अभिव्यक्त हो गया था।

अंतर्चक्षु के खुलते ही इनमें इतनी सामर्थ्य आ गयी कि बाह्य जगत् को भी देखने में समर्थ हो गये। वे भीतर-बाहर सब कुछ देख सकते थे। बिल्कुल निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक होकर रहते थे। बाहरी आंखों के बिगड़ जाने का दुःख सदा के लिये मिट गया।

इनका इतना विकास अल्प समय में ही हो गया। जिन मित्रों ने प्रारम्भ से इनको देखा है, वे कहते हैं कि देखते-ही-देखते उनके भीतर सत्य से अभिन्न होने की गहरी व्याकुलता जो थी, वह परम शांति में बदल गयी। उनका मुख-मण्डल प्रकाशमान हो गया। वे अपने अविनाशी अस्तित्व में आप स्थित रहने लगे। उनके हृदय में ईश्वरीय-प्रेम लहराने

लगा, जिसके स्पर्श मात्र से निकटवर्ती मित्रगण पुलकायमान होने लगे। योग के द्वारा सिद्ध होने वाली सब सिद्धियां सहज ही उनमें आ गयीं, पर वे उन सब सिद्धियों को गोपनीय रखते थे। उनका जीवन योग, बोध एवं प्रेम का सजीव प्रतीक था। यही कारण है कि इनकी उपस्थिति से वातावरण में प्रेम की लहरियां उठती रहती थीं। उनके जीवन से यह सत्य प्रत्यक्ष होता था कि ज्ञान और प्रेम का तत्त्व जब किसी संत में अभिव्यक्त हो जाता है तो वह विभु हो जाता है। श्रीमहाराज जी के निकट सम्पर्क में आने वाले अनेक साधक भाई-बहन एक अज्ञात मिठास के आभास से आकर्षित होकर चुपचाप मंत्रमुग्ध की भांति उनके पास बैठे रहते थे। प्रेम-पथ की साधना की चर्चा जब होने लगती थी और श्री महाराज जी प्रेमी तथा प्रेमास्पद के अनन्त-विहार की मधुर-वार्ता सुनाने लग जाते थे तो सुनने वाले ईश्वर- विश्वासी साधक अपने आप को भूल जाते थे। अनेक श्रोताओं ने समय-समय पर अपना अनुभव हमें बताया कि श्रीमहाराज की वाणी में उनका रसमय जीवन ही प्रवाहमान होकर श्रोताओं को स्पर्श करता

था, जिससे श्रोता अपने आपको प्रेम-भाव में उत्तरोत्तर ऊंचे उठते हुए पाते थे। बड़ा आनन्द आता था।

इनकी प्रश्नोत्तर की शैली बेजोड़ थी। वाक्-पटुता एवं उन्मुक्त हास्य, भ्रम-निवारण के लिये कड़ी से कड़ी आलोचना के साथ ही मातृवत-स्नेह का व्यवहार जिज्ञासु-जनों के विशेष आकर्षण का स्रोत था। अन्तर्बोध से अनुप्राणित, इनकी अकाट्य युक्तियों में बहुत ही स्पष्टता, दृढ़ता एवं निस्सन्देहता थी। इनके प्रवचनों एवं साहित्य में कहीं भी आपको ग्रन्थों के प्रमाणों का उल्लेख नहीं मिलेगा। वे जानते थे कि स्वतः सिद्ध सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे कभी सोचकर नहीं बोलते थे। कई बार उन्होंने प्रसंगवश ऐसा कहा कि, "भाई ! जैसे तुम सुनते हो वैसे मैं भी सुनता हूं। मैं भी तो श्रोता हूं !" उनकी अहम्-शून्य वाणी में ज्ञान और प्रेम की अजस्र धारा सहज ही प्रवाहित होती रहती थी, जिसे सुनकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ कहते थे और आज भी कह रहे हैं कि वर्षों तक ग्रन्थों के अध्ययन से दर्शन के जो गूढ़ रहस्य

समझ में नहीं आये थे, वे सब इन बे-पढ़े संत की वाणी से स्पष्ट हो गये।

१६२१ में देश की स्वतन्त्रता के लिए असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। 'शरीर विश्व रूपी वाटिका की खाद है'—यह सत्य जिनमें उद्‌भासित हुआ था, वे सेवा-भावी संत देश-सेवा के अवसर को कैसे छोड़ते ? वे कूद पड़े स्वातन्त्र्य आन्दोलन की लहर में। एक दिन इनके गुरुदेव के एक मित्र संत इनको आन्दोलन में व्यस्त देखकर इनके पास आये और बड़े प्यार से पूछा—'बेटा, क्या तुमने इसी के लिए घर छोड़ा था?' श्री शरणानन्द जी महाराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट उत्तर दिया—'बिल्कुल नहीं ! देश की सेवा के राग को मैं विचार से नहीं मिटा सका, इसलिए इस कार्य में लगा हूं।' पुनः यह पूछने पर कि 'तुम्हारा क्या हाल है?' इन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं सर्वकाल में अपनी अखण्डता में स्थित हूं। मैं करता-कराता कुछ नहीं हूं।' सेवा में रत रहते हुए भी उनमें देहातीत आनन्द की अखण्डता अक्षुण्ण रहती थी। ऐसे

त्रिगुणातीत पुरुष में ऐसी घोर कर्मठता अन्यत्र देखने में नहीं आती है। ऐसे विलक्षण पुरुष थे श्री स्वामी जी महाराज।

अमानवता की कालिमा से मानवीय सभ्यता का इतिहास तमाच्छन्न होने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध में भीषण नर-संहार हुआ, आणविक बम-विस्फोट से जापान के नगर हिरोशिमा और नागासाकी के हृदयविदारक दृश्य उपस्थित हुए। भारतवर्ष के विभाजन के समय मजहब के नाम पर बर्बरतापूर्ण कुकृत्यों से पीड़ित असंख्य विवश नर-नारियों के चीत्कारों से धरती- आसमान काँप उठे। यह सब सुनकर संत का नवनीत कोमल हृदय द्रवित हो गया।

जाति-भेद, रंग-भेद, मजहब और वर्ग-भेद, वाद और इज्म के भेदों से विविध संकीर्णताओं में विभाजित संसार के विभिन्न देशों को एक दूसरे के नाश में जुटे हुए देखकर पर-पीड़ा से पीड़ित परम कारुणिक संत का हृदय अत्यन्त व्यथित हो उठा। राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भारतीय नागरिकों को अधिकार-लोलुपता में फँसा हुआ देखकर

इन्होंने कांग्रेस की सक्रिय सेवा छोड़ दी और एकान्तिक चिन्तन द्वारा मानव-मात्र की विविध समस्याओं के समाधान पर विचार करने लगे। इनके सामने प्रश्न थे कि—

१. व्यक्ति का कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण कैसे हो ?
२. विश्व-शान्ति सुरक्षित कैसे रहे ?
३. मजहबी भेद-भाव कैसे मिटे ?
४. सामाजिक विषमताएं कैसे दूर हों?
५. मानव के भीतर विद्यमान सोई हुई मानवता कैसे जागृत हो ?
६. मानव-मात्र का जीवन पूर्ण कैसे हो? अर्थात् शान्ति, मुक्ति और भक्ति की माँग पूरी कैसे हो ? आदि-आदि।

करुणा से द्रवित, सर्वात्म-भाव से भावित, संत-हृदय में गहन एकान्तिक- चिन्तन के फलस्वरूप उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में 'मानवता के मूल सिद्धान्त' प्रकाश में आये। उनको श्री महाराज जी ने मानव-समाज के लिये एक नवीन

क्रान्तिकारी विचार-प्रणाली के रूप में संजोया। उसी विचार प्रणाली का प्रतीक है—'मानव सेवा संघ'। जिसकी स्थापना संत-शिरोमणि पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने इस हेतु की कि इसके माध्यम से युगों-युगों तक मानव-समाज की विचारात्मक, भावात्मक, एवं क्रियात्मक सेवायें होती रहें। १६५२ में इसकी स्थापना हुई थी। १६५३ में इसका रजिस्ट्रेशन हो गया। वृन्दावन में इसका प्रधान कार्यालय है। इस संस्था को स्थापित करने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि मानव-मात्र के परित्राण के लिये जिस सर्वमान्य विचार-प्रणाली का सृजन श्री महाराज जी की अर्न्तव्यथा से हुआ था—उसको उन्होंने अपने व्यक्तिगत नाम से प्रकाशित करना पसन्द नहीं किया। जिन्हें अहम् को अभिमान-शून्य रखना अभीष्ट होता है, वे आत्म-ख्याति से बचकर रहते हैं। इसमें दूसरी एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि श्री महाराज जी के विचारानुसार देश, काल, मत, मजहब, सम्प्रदाय एवं वर्ग-निरपेक्ष जो जीवन का सत्य है, उसे व्यक्ति के माध्यम से प्रकट करना उसका मूल्य घटाना है। और सबसे बड़ी बात यह है कि जिन्होंने

परम-प्रेमास्पद की सत्ता से भिन्न अपना अस्तित्व ही नहीं रखा, वे अपने नाम से कोई बात कैसे कह सकते थे! इन्हीं कतिपय उल्लेखनीय कारणों से 'मानव-सेवा-संघ' की स्थापना हुई। तब से अब तक देश के विभिन्न भागों में मानव सेवा संघ के माध्यम से जन-जन के भीतर सोई हुई मानवता को जगाने की सेवा की जा रही है। श्रीस्वामी जी महाराज इस बात के लिए बड़े ही आतुर रहते थे कि प्रत्येक भाई-बहन अपने कल्याण में स्वाधीन और समर्थ हो जाय।

इनका प्रादुर्भाव एक विलक्षण विभूति के रूप में हुआ, ऐसा उनके सम-सामयिक सभी महान् संत एवं महापुरुष मानते हैं। प्रचण्डज्ञान, अकाट्य-युक्ति, सरल विश्वास एवं अनन्य भक्ति—ये सभी पक्ष उनमें अपनी-अपनी पराकाष्ठा पर थे। ऐसा अद्‌भुत काम्बिनेशन कहीं देखने में नहीं आता, जैसा परमपूज्य स्वामी जी महाराज में विद्यमान था। फिर भी उपर्युक्त दिव्यताओं को अपनी विशेषता मानने की भूल उन्होंने कभी नहीं की।

मेरा कुछ नहीं है।
मुझे कुछ नहीं चाहिये।
मैं कुछ नहीं हूं।
सर्व-समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं—

यह चिरन्तन सत्य उनका जीवन था और यही उनके कथन का केन्द्र भी है। श्री महाराज जी की बड़ी भारी विशेषता यह रही है कि वे साधकों को किसी बाहरी विधि-विधान एवं अभ्यास-जन्य साधनों पर अटकने नहीं देते थे। विभिन्न दार्शनिक मतभेदों में उलझने नहीं देते थे।

किसी दर्शन या साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करते थे। उन्होंने कभी अपना मत दूसरों पर आरोपित नहीं किया। स्वयं कट्टर ईश्वरवादी होते हुए भी कभी ईश्वरवाद का प्रचार नहीं किया। वे एक तत्त्वदर्शी संत थे। इसी कारण उन्होंने भक्तिपथ, ज्ञान पथ या योगपथ में किसी को सबसे अच्छा या किसी को उससे कम अच्छा नहीं बताया, किसी को सहज या किसी को अपेक्षाकृत कठिन नहीं बताया।

उन्होंने इस बात को घोषित किया है कि 'दर्शन अनेक और जीवन एक है।' उन्होंने साधकमात्र को यह अभय वचन दिया है कि तुम आरम्भ में अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, विश्वास और विचार के अनुसार किसी एक साधन-पथ को पसन्द कर लो, पूर्णता में तुम्हें पूर्ण जीवन मिलेगा। कर्तव्यनिष्ठ को भी, योगी को भी, विचारक को भी एवं प्रभु विश्वासी को भी दिव्य-चिन्मय रस-रूप जीवन मिलता है, यह निर्विवाद सत्य है। जीवन की पूर्णता में योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता सभी साधकों की हो जाती है। यह एक बड़ा ही क्रान्तिकारी विचार है, जिससे अनेकों साधकों को अनेकों उलझनों से मुक्ति मिल जाती है। श्री नहाराज जी का यह क्रान्तिकारी विचार उनके प्रवचनों में स्पष्टतः व्यक्त होता था।

व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण सम्बन्धी कोई ऐसी समस्या नहीं है कि जिसका समाधान श्री महाराज जी की वाणी के अनुसरण से न हो जाय। श्री महाराज जी के अनुसार मानव-जीवन का सुन्दरतम चित्र

यह है कि—
शरीर विश्व के काम आ जाय,
अहम् अभिमान-शून्य हो जाय, और
हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

इस आदर्श को उन्होंने अपने जीवन से हमें दर्शाया और अपने महाप्रयाण से भी यही पाठ पढ़ाया। जब उन्हें यह विदित हो गया कि उनका शरीर अब समाज की सेवा के योग्य नहीं रह गया, तब उस शरीर को त्यागने का समय, तिथि एवं विधि भीतर ही भीतर निश्चित कर ली और कहने लगे—

१. मैं त्रिकाल में भी शरीर नहीं हूं।

२. शरीर के नाश से मुझे दुःख नहीं होगा। मैं बहुत आनन्द में रहूंगा।

३. बीच की यह उपाधि हट जायगी तो भक्त और भगवान् के अनन्त मिलन का अनंत आनंद रहेगा। इसलिए इस शरीर के छूटने पर शोक-सभाएं नहीं होंगी, सत्संग-समारोह होंगे।

४. शरीर की बैकुण्ठी नहीं सजेगी, प्रोसेसन नहीं

निकलेगा। मैं क्रान्तिकारी संन्यासी हूँ। तुम लोग विधि-विधान में मत पड़ना। कुटी में से पार्थिव शरीर को निकाल कर, आँगन में रख कर भस्म कर देना। शरीर की भस्मी मिट्टी में मिला दी जायगी, खाद बन जायगी, घास उगेगी, पशुओं का चारा बनेगा।

५. समाधि-स्थल पर कोई चिन्ह नहीं बनेगा, फूल नहीं चढ़ेगा।

६. साधना का नाश नहीं होता है। अतः सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत विभु होकर जन समाज में फैलेगा।

७. इस शरीर की सेवा में जिसकी रुचि है, वह मानव सेवा संघ की सेवा करे, संघ मेरा शरीर है और वह स्थाई रहेगा।

८. जो लोग मुझे प्यार करते हैं वे भगवान् को प्यार करें, क्योंकि भगवत्-प्रेम मेरा जीवन है।

९. जो उपदेष्टा भगवत्-विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्-सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ

करते हैं।

१०. सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है, कुछ नहीं है.....कुछ नहीं है।

११. व्यक्त-जगत की विविधता के भीतर अव्यक्त नित्य प्रेम-तत्त्व के एकत्व के दर्शी संत ने कहा—

(क) 'कोई गैर नहीं है'—यह धर्म का मन्त्र है।

(ख) 'कोई और नहीं है'—यह प्रेम का मन्त्र है।

प्रिय साधको, इस सत्य को मानो। सर्व-समर्थ प्रभु तुम्हारे अपने हैं, उनके होकर रहो, उन्हीं का काम करो और यह सद्गुरु का आशीर्वचन है कि उन्हीं में तुम्हारा नित्यवास होगा।

अमृतमयी वाणी को सुनाकर, योग स्थित होकर नाशवान शरीर को स्वेच्छा से त्याग करके उन ब्रह्मनिष्ठ ने जीने की और मरकर अमर होने की कला हमें सिखायी। उन संत-शिरोमणि के चरणों में हमारा शत-शत नमन!

जब तक पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज सशरीर इस संसार में विराजमान थे ; तब तक उन्होंने अपना जीवनदायी संदेश ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त अविराम भ्रमण करते हुए साधु-संत, साधक, समाजसेवी, साहित्यकार आदि सभी वर्गों को सुनाया और अब उनके ब्रह्मलीन हो जाने पर मानव सेवा संघ के माध्यम से यह काम हो रहा है।

संत अमर हैं। उनकी वाणी अमर है। हम सब भाई-बहन अमरत्व से अभिन्न हो जांय, इसी सद्भावना के साथ !

निवेदिका :
देवकी

प्रार्थना

मेरे नाथ !
आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ पतितपावनी, अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें, एवं हे करुणासागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें, सभी का जीवन सेवा, त्याग, प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

संघ के ग्यारह नियम

१—आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२—की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक, प्रार्थना करना।

३—विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४—जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५—दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

६—पारिवारिक तथा जातीय संबंध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही

पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७—निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८—शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९—शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०—सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।

११—व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

अनमोल बोल

(क) कोई भी वस्तु जो तुम्हें दूर से दूर-दूर मालूम होती है, उससे कम दूर शरीर नहीं है।

(ख) कोई भी चीज जो तुम्हें अत्यन्त समीप मालूम होती है, उससे अधिक समीप परमात्मा है।

(ग) जो पूर्ण है उसी में प्रेम प्रवाहित होता है। जो अचाह है, जिसमें भोग और मोक्ष की चाह नहीं है उसी में प्रेम ठहरता है।

(घ) प्रेमियों में जो प्रेम भासता है, वह पूर्ण के प्रेम की छाया है। मनुष्य अचाह होने के कारण अपूर्ण होते हुये भी पूर्ण के प्रेम का पात्र बन जाता है, तभी उस पर पूर्ण के प्रेम की छाया पड़ती है।

(ङ) प्रेम व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं है। प्रेम परमात्मा का स्वभाव है।

(च) प्रेमियों की भाषा में चाहने वाले को चाहना पशुता है।